# जैनधर्म में तीर्थ की अवधारणा

समग्र भारतीय परम्पराओं में 'तीर्थ' की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है फिर भी जैन परम्परा में तीर्थ को जो महत्त्व दिया गया है वह विशिष्ट ही है, क्योंकि उसमें धर्म को ही तीर्थ कहा गया है और धर्म-प्रवर्तक तथा उपासना एवं साधना के आदर्श को तीर्थङ्कर कहा गया है । अन्य धर्म परम्पराओं में जो स्थान ईश्वर का है, वही जैन परम्परा में तीर्थङ्कर को । वह धर्मरूपी तीर्थ का संस्थापक माना जाता है । दूसरे शब्दों में जो तीर्थ अर्थात् धर्म-मार्ग की स्थापना करता है, वही तीर्थङ्कर है। इस प्रकार जैनधर्म में तीर्थ एवं तीर्थङ्कर की अवधारणाएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं और वे जैनधर्म की प्राण हैं ।

## जैनधर्म में तीर्थ का सामान्य अर्थ

जैनाचार्यों ने तीर्थ की अवधारणा पर विस्तार से प्रकाश डाला है । तीर्थ शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुए कहा गया है - तीर्यते अनेनेति तीर्थः[१] अर्थात् जिसके द्वारा पार हुआ जाता है वह तीर्थ कहलाता है । इस प्रकार सामान्य अर्थ में नदी, समुद्र आदि के वे तट जिनसे पार जाने की यात्रा प्रारम्भ की जाती थी तीर्थ कहलाते थे; इस अर्थ में जैनागम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में मागध तीर्थ, वरदाम तीर्थ और प्रभास तीर्थ का उल्लेख मिलता है ।[२]

## तीर्थ का लाक्षणिक अर्थ

लाक्षणिक दृष्टि से जैनाचार्यों ने तीर्थ शब्द का अर्थ लिया - जो संसार समुद्र से पार कराता है, वह तीर्थ है और ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थङ्कर है । संक्षेप में मोक्ष-मार्ग को ही तीर्थ कहा गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतधर्म, साधना-मार्ग, प्रावचन, प्रवचन और तीर्थ- इन पांचों को पर्यायवाची बताया गया है।[३] इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में तीर्थ शब्द केवल तट अथवा पवित्र या पूज्य स्थल के अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तीर्थ से जैनों का तात्पर्य मात्र किसी पवित्र स्थल तक ही सीमित नहीं है । वे तो समग्र धर्ममार्ग और धर्म-साधकों के समूह को ही तीर्थ-रूप में व्याख्यायित करते हैं ।

## तीर्थ का आध्यात्मिक अर्थ

जैनों ने तीर्थ के लौकिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ से ऊपर उठकर उसे आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया है। उत्तराध्ययनसूत्र में चाण्डालकुलोत्पन्न हरकेशी नामक महान् निर्ग्रन्थ साधक से जब यह पूछा गया कि आपका सरोवर कौन-सा है ? आपका शान्तितीर्थ कौन-सा है? तो उसके प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि धर्म ही मेरा सरोवर है और ब्रह्मचर्य ही शान्ति-तीर्थ है जिसमें स्नान करके आत्मा निर्मल और विशुद्ध हो जाती है ।[४] विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि सरिता आदि द्रव्यतीर्थ तो मात्र बाह्यमल अर्थात् शरीर की शुद्धि करते हैं अथवा वे केवल नदी, समुद्र आदि के पार पहुँचाते हैं, अतः वे वास्तविक तीर्थ नहीं हैं । वास्तविक तीर्थ तो वह है जो जीव को संसार-समुद्र से उस पार मोक्षरूपी तट पर पहुँचाता है ।[५] विशेषावश्यकभाष्य में न केवल लौकिक तीर्थस्थलों (द्रव्यतीर्थ)की अपेक्षा आध्यात्मिक तीर्थ (भावतीर्थ) का महत्त्व बताया गया है, अपितु नदियों के जल में स्नान और उसका पान अथवा उनमें अवगाहन मात्र से संसार से मुक्ति मान लेने की धारणा का खण्डन भी किया गया है । भाष्यकार कहता है कि "दाह की शान्ति, तृषा का नाश इत्यादि कारणों से गंगा आदि के जल को शरीर के लिए उपकारी होने से तीर्थ मानते हो तो अन्य खाद्य, पेय एवं शरीर-शुद्धि करने वाले द्रव्य इत्यादि भी शरीर के उपकारी होने के कारण तीर्थ माने जायेंगे किन्तु इन्हें कोई भी तीर्थरूप में स्वीकार नहीं करता है" ।[६] वास्तव में तो तीर्थ वह है जो हमारे आत्मा के मल को धोकर हमें संसार-सागर से पार कराता है । जैन परम्परा की तीर्थ की यह अध्यात्मपरक व्याख्या हमें वैदिक परम्परा में भी उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है- सत्य तीर्थ है, क्षमा और इन्द्रिय-निग्रह भी तीर्थ है । समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव, चित्त की सरलता, दान, सन्तोष, ब्रह्मचर्य का पालन, प्रियवचन, ज्ञान, धैर्य और पुण्य कर्म - ये सभी तीर्थ हैं ।[७]

## द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ

जैनों ने तीर्थ के जंगमतीर्थ और स्थावरतीर्थ ऐसे दो विभाग भी किये हैं ।[८] इन्हें क्रमशः चेतनतीर्थ और जड़तीर्थ अथवा भावतीर्थ और द्रव्यतीर्थ भी कह सकते हैं । वस्तुतः नदी, सरोवर आदि तो जड़ या द्रव्य तीर्थ हैं, जबकि श्रुतविहित मार्ग पर चलने वाला संघ भावतीर्थ है और वही वास्तविक तीर्थ है । उसमें साधुजन पार कराने वाले हैं, ज्ञानादि रत्नत्रय नौका-रूप तैरने के साधन हैं और संसार-समुद्र ही पार करने की वस्तु है । जिन ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि द्वारा अज्ञानादि सांसारिक भावों से पार हुआ जाता है, वे ही भावतीर्थ हैं । क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मल हैं, इनको जो निश्चय ही दूर करता है वही वास्तव में तीर्थ है[९] । जिनके द्वारा क्रोधादि की अग्नि को शान्त किया जाता है वही संघ वस्तुतः तीर्थ है । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन जैन परम्परा में आत्मशुद्धि की साधना और जिस संघ में स्थित होकर यह साधना की जा सकती है, वह संघ ही वास्तविक तीर्थ माना गया है ।

## 'तीर्थ' के चार प्रकार

विशेषावश्यकभाष्य में चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख है, नाम-तीर्थ, स्थापनातीर्थ, द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ । जिन्हें तीर्थ नाम दिया गया है वे नामतीर्थ हैं । वे विशेष स्थल जिन्हें तीर्थ मान लिया गया है, वे स्थापनातीर्थ हैं । अन्य परम्पराओं में पवित्र माने गये नदी, सरोवर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आदि अथवा जिनेन्द्रदेव के गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति एवं निर्वाण के स्थल द्रव्यतीर्थ हैं, जबकि मोक्षमार्ग और उसकी साधना करने वाला चतुर्विधसंघ भावतीर्थ है[१०] । इस प्रकार जैनधर्म में सर्वप्रथम तो जिनोपदिष्ट धर्म, उस धर्म का पालन करने वाले साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विधसंघ को ही तीर्थ और उसके संस्थापक को तीर्थङ्कर कहा गया है। यद्यपि परवर्ती काल में पवित्र स्थल भी द्रव्यतीर्थ के रूप में स्वीकृत किये गये हैं ।

### तीर्थ शब्द धर्मसंघ के अर्थ में

प्राचीन काल में श्रमण परम्परा के साहित्य में 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग धर्म-संघ के अर्थ में होता रहा है । प्रत्येक धर्मसंघ या धार्मिक साधकों का वर्ग तीर्थ कहलाता था, इसी आधार पर अपनी परम्परा से भिन्न लोगों को तैर्थिक या अन्यतैर्थिक कहा जाता था । जैन साहित्य में बौद्ध आदि अन्य श्रमण परम्पराओं को तैर्थिक या अन्य तैर्थिक के नाम से अभिहित किया गया है[११] । बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में भी निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर के अतिरिक्त मंखलिगोशालक, अजितकेशकम्बल, पूर्णकाश्यप, पकुधकात्यायन आदि को भी तित्थकर (तीर्थंकर) कहा गया है[१२] । इससे यह फलित होता है कि उनके साधकों का वर्ग भी तीर्थ के नाम से अभिहित होता था। जैन परम्परा में तो जैनसंघ या जैन साधकों के समुदाय के लिए तीर्थ शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से लेकर वर्तमान युग तक यथावत् प्रचलित है । आचार्य समन्तभद्र ने महावीर की स्तुति करते हुए कहा है कि हे भगवन् ! आपका यह तीर्थ सर्वोदय अर्थात् सबका कल्याण करने वाला है[१३] । महावीर का धर्मसंघ सदैव ही तीर्थ के नाम से अभिहित किया जाता रहा है ।

### साधना की सुकरता और दुष्करता के आधार पर तीर्थों का वर्गीकरण

विशेषावश्यकभाष्य में साधना पद्धति के सुकर या दुष्कर होने के आधार पर भी इन संघरूपी तीर्थों का वर्गीकरण किया गया है । भाष्यकार ने चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है[१४] कि-

१. सर्वप्रथम कुछ तीर्थ (तट) ऐसे होते हैं जिनमें प्रवेश भी सुखकर होता है और जहाँ से पार करना भी सुखकर होता है; इसी प्रकार कुछ तीर्थ या साधक-संघ ऐसे होते हैं, जिनमें प्रवेश भी सुखद होता है और साधना भी सुखद होती है । ऐसे तीर्थ का उदाहरण देते हुए भाष्यकार ने शैवमत का उल्लेख किया है, क्योंकि शैव सम्प्रदाय में प्रवेश और साधना दोनों ही सुखकर माने गये हैं ।

२. दूसरे वर्ग में वे तीर्थ (तट) आते हैं जिनमें प्रवेश तो सुखरूप हो किन्तु जहाँ से पार होना दुष्कर या कठिन हो । इसी प्रकार कुछ धर्मसंघों में प्रवेश तो सुखद होता है किन्तु साधना कठिन होती है। ऐसे संघ का उदाहरण बौद्ध संघ के रूप में दिया गया है । बौद्ध संघ में प्रवेश तो सुलभतापूर्वक सम्भव था, किन्तु साधना उतनी सुखरूप नहीं थी, जितनी कि शैव सम्प्रदाय की ।

३. तीसरे वर्ग में ऐसे तीर्थ का उल्लेख हुआ है 'जिसमें प्रवेश तो कठिन है किन्तु साधना सुकर है ।' भाष्यकार ने इस सन्दर्भ में जैनों के ही अचेल सम्प्रदाय का उल्लेख किया है । इस संघ में अचेलकता अनिवार्य थी, अत: इस तीर्थ को प्रवेश की दृष्टि से दुष्कर, किन्तु अनुपालन की दृष्टि से सुकर माना गया है ।

४. ग्रन्थकार ने चौथे वर्ग में उस तीर्थ का उल्लेख किया है जिसमें प्रवेश और साधना दोनों दुष्कर है और स्वयं इस रूप में अपने ही सम्प्रदाय का उल्लेख किया है । यह वर्गीकरण कितना समुचित है यह विवाद का विषय हो सकता है किन्तु इतना निश्चित है कि साधना-मार्ग की सुकरता या दुष्करता के आधार पर जैन परम्परा में विविध प्रकार के तीर्थों की कल्पना की गई है और साधना मार्ग को ही तीर्थ के रूप में ग्रहण किया गया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में तीर्थ से तात्पर्य मुख्य रूप से पवित्र स्थल की अपेक्षा साधना-विधि से लिया गया है और ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूप मोक्षमार्ग को ही भावतीर्थ कहा गया है, क्योंकि ये साधक के विषय-कषायरूपी मल को दूर करके समाधि रूपी आत्मशान्ति को प्राप्त करवाने में समर्थ है। प्रकारान्तर से साधकों के वर्ग को भी तीर्थ कहा गया है । भगवतीसूत्र में तीर्थ की व्याख्या करते हुए स्पष्टरूप से कहा गया है कि चतुर्विध श्रमणसंघ ही तीर्थ है ।[१५] श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकायें-इस चतुर्विध श्रमणसंघ के चार अंग हैं । इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि प्राचीन जैन ग्रन्थों में तीर्थ शब्द को संसार-समुद्र से पार कराने वाले साधन के रूप में ग्रहीत करके त्रिविध साधना-मार्ग और उसका अनुपालन करने वाले चतुर्विध श्रमणसंघ को ही वास्तविक तीर्थ माना गया है ।

### निश्चयतीर्थ और व्यवहारतीर्थ :

जैनों की दिगम्बर परम्परा में तीर्थ का विभाजन निश्चयतीर्थ और व्यवहारतीर्थ के रूप में हुआ है । निश्चयतीर्थ के रूप में सर्वप्रथम तो आत्मा के शुद्ध-बुद्ध स्वभाव को ही निश्चयतीर्थ कहा गया है। उसमें कहा गया है कि पंचमहाव्रतों से युक्त सम्यक्त्व से विशुद्ध, पांच इन्द्रियों से संयत निरपेक्ष आत्मा ही ऐसा तीर्थ है जिसमें दीक्षा और शिक्षा रूप स्नान करके पवित्र हुआ जाता है ।[१६] पुन: निर्दोष सम्यक्त्व, क्षमा आदि धर्म, निर्मलसंयम, उत्तम तप और यर्थाथज्ञान-ये सब भी कषायभाव से रहित और शान्तभाव से युक्त होने पर निश्चयतीर्थ माने गये हैं[१७] । इसी प्रकार मूलाचार में श्रुतधर्म को तीर्थ कहा गया है,[१८] क्योंकि वह ज्ञान के माध्यम से आत्मा को पवित्र बनाता है। सामान्य निष्कर्ष यह है कि वे सभी साधन जो आत्मा के विषय-कषायरूपी मल को दूर कर उसे संसार-समुद्र से पार उतारने में सहायक होते हैं या पवित्र बनाते हैं, वे निश्चयतीर्थ हैं । यद्यपि बोधपाहुड की टीका (लगभग ११वीं शती) में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि 'जो निश्चयतीर्थ की प्राप्ति का कारण है ऐसे जगत्-प्रसिद्ध मुक्तजीवों के चरणकमलों से संस्पर्शित उर्जयंत,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शत्रुञ्जय, पावागिरि आदि तीर्थ हैं और कर्मक्षय का कारण होने से वे व्यवहारतीर्थ भी वन्दनीय माने गये हैं ।[१९] इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी साधनामार्ग और आत्मविशुद्धि के कारणों को निश्चयतीर्थ और पंचकल्याणक भूमियों को व्यवहार तीर्थ माना गया है । मूलाचार में भी यह कहा गया है कि दाहोपशमन, तृषानाश और मल की शुद्धि ये-तीन कार्य जो करते हैं वे द्रव्यतीर्थ हैं 'किन्तु जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त जिनदेव हैं वे भावतीर्थ हैं' यह भावतीर्थ ही निश्चयतीर्थ है। कल्याण भूमि तो व्यवहारतीर्थ है[२०] । इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में प्रधानता तो भावतीर्थ या निश्चयतीर्थ को ही दी गई है, किन्तु आत्मविशुद्धि के हेतु या प्रेरक होने के कारण द्रव्यतीर्थों या व्यवहारतीर्थों को भी स्वीकार किया गया है । स्मरण रहे कि अन्य धर्म परम्पराओं में जो तीर्थ की अवधारणा उपलब्ध है, उसकी तुलना जैनों के द्रव्यतीर्थ से की जा सकती है ।'

## जैन परम्परा में तीर्थ शब्द का अर्थ-विकास

श्रमण-परम्परा में प्रारम्भ में तीर्थ की इस अवधारणा को एक आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया गया था। विशेषावश्यकभाष्य जैसे प्राचीन आगमिक व्याख्या-ग्रन्थों में भी वैदिक परम्परा में मान्य नदी, सरोवर आदि स्थलों को तीर्थ मानने की अवधारणा का खण्डन किया गया और उसके स्थान पर रत्नत्रय से युक्त साधनामार्ग अर्थात् उस साधना में चल रहे साधक के संघ को तीर्थ के रूप में अभिहित किया गया है । यही दृष्टिकोण अचेल परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार में भी देखा जाता है, जिसका उल्लेख पूर्व में हम कर चुके हैं ।

किन्तु परवर्ती काल में जैन परम्परा में तीर्थ सम्बन्धी अवधारणा में परिवर्तन हुआ और द्रव्य तीर्थ अर्थात् पवित्र स्थलों को भी तीर्थमाना गया । सर्वप्रथम तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण से सम्बन्धित स्थलों को पूज्य मानकर उन्हें तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया । आगे चलकर तीर्थङ्करों के जीवन की प्रमुख घटनाओं से सम्बन्धित स्थल ही नहीं अपितु गणधर एवं प्रमुख मुनियों के निर्वाणस्थल और उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना से जुड़े हुए स्थल भी तीर्थ के रूप मे स्वीकार किये गये । इससे भी आगे चलकर वे स्थल भी, जहाँ कलात्मक मन्दिर बने या जहाँ की प्रतिमाएँ चमत्कारपूर्ण मानी गयीं, तीर्थ कहे गये ।

## हिन्दू और जैनतीर्थ की अवधारणाओं में मौलिक अन्तर

यह सत्य है कि कालान्तर में जैनों ने हिन्दू परम्परा के समान ही कुछ स्थलों को पवित्र और पूज्य मानकर उनकी पूजा और यात्रा को महत्त्व दिया, किन्तु फिर भी दोनों अवधारणाओं में मूलभूत अन्तर है । हिन्दू परम्परा नदी, सरोवर आदि को स्वत: पवित्र मानती है, जैसे-गंगा । यह नदी किसी ऋषि-मुनि आदि के जीवन की किसी घटना से सम्बन्धित होने के कारण नहीं, अपितु स्वत: ही पवित्र है । ऐसे पवित्र स्थल पर स्नान, पूजा-अर्चना, दान-पुण्य एवं यात्रा आदि करने को एक धार्मिक कृत्य माना जाता है । इसके विपरीत जैन परम्परा में तीर्थ स्थल को अपने आप में पवित्र नहीं माना गया, अपितु यह माना गया कि तीर्थंकर अथवा अन्य त्यागी-तपस्वी महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण वे स्थल पवित्र बने हैं । जैनों के अनुसार कोई भी स्थल अपने आप में पवित्र या अपवित्र नहीं होता, अपितु वह किसी महापुरुष से सम्बद्ध होकर या उनका सान्निध्य पाकर पवित्र माना जाने लगता है, यथा - कल्याणक भूमियाँ; जो तीर्थङ्कर के गर्भ जन्म, दीक्षा कैवल्य या निर्वाणस्थल होने से पवित्र मानी जाती है । बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित स्थलों को पवित्र माना गया हैं।

हिन्दू और जैन परम्परा में दूसरा महत्त्वपूर्ण अन्तर यह ह कि जहाँ हिन्दू परम्परा में प्रमुखतया नदी-सरोवर आदि को तीर्थ रूप में स्वीकार किया गया है वहीं जैन परम्परा में सामान्यतया किसी नगर अथवा पर्वत को ही तीर्थस्थल के रूप में स्वीकार किया गया। यह अन्तर भी मूलत: तो किसी स्थल को स्वत: पवित्र मानना या किसी प्रसिद्ध महापुरुष के कारण पवित्र मानना - इसी तथ्य पर आधारित है । पुन: इस अन्तर का एक प्रसिद्ध कारण यह भी है- जहाँ हिन्दू परम्परा में बाह्य-शौच (स्नानादि, शारीरिक शुद्धि) की प्रधानता थी, वहीं जैन परम्परा में तप और त्याग द्वारा आत्मशुद्धि की प्रधानता थी, स्नानादि तो वर्ज्य ही माने गये थे । अत: यह स्वाभाविक था कि जहाँ हिन्दू परम्परा में नदी-सरोवर तीर्थ रूप में विकसित हुए, वहाँ जैन परम्परा में साधना-स्थल के रूप में वन-पर्वत आदि तीर्थों के रूप में विकसित हुए । यद्यपि आपवादिक रूप में हिन्दू परम्परा में भी कैलाश आदि पर्वतों को तीर्थ माना गया, वहीं जैन परम्परा में शत्रुंजय नदी आदि को पवित्र या तीर्थ के रूप में माना गया है, किन्तु यह इन परम्पराओं के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम था । पुन: हिन्दू परम्परा में जिन पर्वतीय स्थलों जैसे कैलाश आदि को तीर्थ रूप में माना गया उनके पीछे भी किसी देव का निवास स्थान या उसकी साधनास्थली होना ही एकमात्र कारण था, किन्तु यह निवृत्तिमार्गी परम्परा का ही प्रभाव था । दूसरी ओर हिन्दू परम्परा के प्रभाव से जैनों में भी यह अवधारण बनी कि यदि शत्रुंजय नदी में स्नान नहीं किया तो मानव जीवन ही निरर्थक हो गया ।

'सतरूंजी नदी नहायो नहीं, तो गयो मिनख जमारो हार'।

## तीर्थ और तीर्थयात्रा

पूर्व विवरण से स्पष्ट है कि जैन परम्परा में 'तीर्थ' शब्द के अर्थ का ऐतिहासिक विकास-क्रम है । सर्वप्रथम जैन धर्म में गंगा आदि लौकिक तीर्थों की यात्रा तथा वहाँ स्नान, पूजन आदि को धर्म साधना की दृष्टि से अनावश्यक माना गया और तीर्थ शब्द को आध्यात्मिक अर्थ प्रदान कर आध्यात्मिक साधना मार्ग को तथा उस साधना का अनुपालन करने वाले साधकों के संघ को ही तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया। किन्तु कालान्तर में जैन परम्परा में भी तीर्थङ्करों की कल्याणक भूमियों को पवित्र स्थानों के रूप में मान्य करके तीर्थ की लौकिक अवधारणा का विकास हुआ । ई०पू० में रचित अति प्राचीन जैन-आगमों जैसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचारांग आदि में हमें जैन तीर्थस्थलों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है यद्यपि उनमें हिन्दू परम्परा के तीर्थस्थलों पर होने वाले महोत्सवों तथा यात्राओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु आध्यात्ममार्गी जैन परम्परा मुनि के लिए इन तीर्थमेलों और यात्राओं में भाग लेने का भी निषेध करती थी[२१]। ईसा की प्रथम शताब्दी से पांचवीं शताब्दी के मध्य निर्मित परवर्ती आगमिक साहित्य में भी यद्यपि जैन तीर्थस्थलों और तीर्थयात्राओं के स्पष्ट संकेत तो नहीं मिलते, फिर भी इनमें तीर्थङ्करों की कल्याणकभूमियों, विशेष रूप से जन्म एवं निर्वाणस्थलों की चर्चा है[२२]। साथ ही तीर्थङ्करों की चिता-भस्म एवं अस्थियों को क्षीरसमुद्रादि में प्रवाहित करने तथा देवलोक में उनके रखे जाने के उल्लेख इन आगमों में हैं। उनमें अस्थियों एवं चिता-भस्म पर चैत्य और स्तूप के निर्माण के उल्लेख भी मिलते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ऋषभ के निर्वाणस्थल पर स्तूप बनाने का उल्लेख है[२३]। इस काल के आगम ग्रन्थों में हमें देवलोक एवं नन्दीश्वरद्वीप में निर्मित चैत्य आदि के उल्लेखों के साथ-साथ यह भी वर्णन मिलता है कि पर्व-तिथियों में देवता नन्दीश्वरद्वीप जाकर महोत्सव आदि मनाते हैं[२४]। यद्यपि इस काल के आगमों में अरिहंतों के स्तूपों एवं चैत्यों के उल्लेख तो हैं किन्तु उन पवित्र स्थलों पर मनुष्यों द्वारा आयोजित होने वाले महोत्सवों और उनकी तीर्थ-यात्राओं पर जाने का कोई उल्लेख नहीं है। विद्वानों से मेरी अपेक्षा है कि यदि उन्हें इस तरह का कोई उल्लेख मिले तो वे सूचित करें।

यद्यपि लोहानीपुर और मथुरा में उपलब्ध जिन-मूर्तियों, आयागपट्टों, स्तूपांकनों तथा पूजा के निमित्त कमल लेकर प्रस्थान आदि के अंकनों से यह तो निश्चित हो जाता है कि जैन परम्परा में चैत्यों के निर्माण और जिन प्रतिमा के पूजन की परम्परा ई०पू० की तीसरी शताब्दी में भी प्रचलित थी। किन्तु तीर्थ और तीर्थयात्रा सम्बन्धी उल्लेखों का आचारांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे इस काल के प्राचीन आगमों में अभाव हमारे सामने एक प्रश्न चिह्न तो अवश्य ही उपस्थित करता है।

तीर्थ और तीर्थयात्रा सम्बन्धी समस्त उल्लेख निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य में उपलब्ध होते हैं। आचारांग निर्युक्ति में अष्टापद, ऊर्जयन्त, गजाग्रपद, धर्मचक्र और अहिच्छत्रा को वन्दन किया गया है।[२५] इससे यह स्पष्ट होता है कि निर्युक्ति काल में तीर्थस्थलों के दर्शन, वन्दन एवं यात्रा की अवधारणा स्पष्ट रूप से बन चुकी थी और इसे पुण्य कार्य माना जाता था। निशीथचूर्णि में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थङ्करों की कल्याणक भूमियों की यात्रा करने से दर्शन की विशुद्धि होती है अर्थात् व्यक्ति की श्रद्धा पुष्ट होती है[२६]।

इस प्रकार जैनों में तीर्थङ्करों की कल्याणक-भूमियों की तीर्थरूप में स्वीकार कर उनकी यात्रा के स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम लगभग छठी शती से मिलने लगते हैं। यद्यपि इसके पूर्व भी यह परम्परा प्रचलित तो अवश्य ही रही होगी। इस काल में कल्याणक भूमियों के अतिरिक्त वे स्थल, जो मन्दिर और मूर्तिकला के कारण प्रसिद्ध हो गये थे, उन्हें भी तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया और उनकी यात्रा एवं वन्दन को भी बोधिलाभ और निर्जरा का कारण माना गया। निशीथचूर्णि में तीर्थङ्करों की जन्म कल्याणक आदि भूमियों के अतिरिक्त उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देवनिर्मितस्तूप और कौशल की जीवन्तस्वामी की प्रतिमा को पूज्य बताया गया है।[२७] इसी प्रकार वे स्थल, जहां कलात्मक एवं भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ अथवा किसी जिन-प्रतिमा को चमत्कारी मान लिया गया, तीर्थ रूप में मान्य हुए। उत्तरापथ, मथुरा और कोशल आदि की तीर्थ रूप में प्रसिद्धि इसी कारण थी। हमारी दृष्टि से सम्भवत: आगे चलकर तीर्थों का जो विभाजन कल्याणक क्षेत्र, सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र के रूप में हुआ, उसका भी यही कारण था।

**तीर्थ क्षेत्र के प्रकार** -जैन परम्परा में तीर्थ स्थलों का वर्गीकरण मुख्य रूप से तीन वर्गों में किया जाता है -

१. कल्याणकक्षेत्र, २. निर्वाणक्षेत्र और ३. अतिशयक्षेत्र।

**१.कल्याणक क्षेत्र-** जैन परम्परा में सामान्यतया प्रत्येक तीर्थंकर के पांच कल्याणक माने गये हैं। कल्याणक शब्द का तात्पर्य तीर्थंकर के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित पवित्र दिन से है। जैन परम्परा में तीर्थंकरों के गर्भ-प्रवेश, जन्म, दीक्षा (अभिनिष्क्रमण), कैवल्य (बोधिप्राप्ति) और निर्वाण दिवसों को कल्याण दिवस के रूप में माना जाता है। तीर्थंकर के जीवन की ये महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जिस नगर या स्थल पर घटित होती हैं उसे कल्याणक भूमि कहा जाता है। तीर्थङ्करों की इन कल्याणक भूमियों का एक संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है-

**२. निर्वाणक्षेत्र-** निर्वाणक्षेत्र को सामन्यतया सिद्धक्षेत्र भी कहा जाता है। जिस स्थल से किसी मुनि को निर्वाण प्राप्त होता है, वह स्थल सिद्धक्षेत्र या निर्वाणस्थल के नाम से जाना जाता है। सामान्य मान्यता तो यह है कि इस भूमण्डल पर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ से कोई न कोई मुनि सिद्धि को प्राप्त न हुआ हो। अत: व्यावहारिक दृष्टि से तो समस्त भूमण्डल ही सिद्धक्षेत्र या निर्वाणक्षेत्र है। फिर भी सामान्यतया जहाँ से अनेक सुप्रसिद्ध मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया हो, उसे निर्वाण क्षेत्र कहा जाता है। जैन परम्परा में शत्रुंजय, पावागिरि, तुंगीगिरि) सिद्धवरकूट, चूलगिरि, रेशन्दगिरि, सोनागिरि आदि सिद्धक्षेत्र माने जाते हैं। सिद्धक्षेत्रों की विशिष्ट मान्यता तो दिगम्बर परम्परा में प्रचलित है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में भी शत्रुंजयतीर्थ सिद्धक्षेत्र ही है।

**३. अतिशयक्षेत्र-** वे स्थल, जो न तो किसी तीर्थङ्कर की कल्याणक-भूमि हैं, न किसी मुनि की साधना या निर्वाण-भूमि हैं किन्तु जहाँ की जिन-मूर्तियाँ चमत्कारी हैं अथवा जहाँ के मन्दिर भव्य हैं, वे अतिशय क्षेत्र कहे जाते है। आज जैन परम्परा में अधिकांश तीर्थ अतिशयक्षेत्र के रूप में ही माने जाते है। उदाहरण के रूप में आबू, रणकपुर, जैसलमेर, श्रवणबेलगोला आदि इसी रूप में प्रसिद्ध हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैनों के कुछ तीर्थ न केवल तीर्थङ्करों की मूर्तियों के चामत्कारिक होने के कारण, अपितु उस तीर्थ के अधिष्ठायक देवों की चमत्कारिता के कारण भी प्रसिद्धि उन तीर्थों के अधिष्ठायक देवों के कारण ही हुई है। इसी प्रकार हुम्मच की प्रसिद्धि पार्श्व की यक्षी पद्मावती की मूर्ति के चामत्कारिक होने के आधार पर ही है।

इन तीन प्रकार के तीर्थों के अतिरिक्त कुछ तीर्थ ऐसे भी हैं जो

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस कल्पना पर आधारित हैं कि यहाँ पर किसी समय तीर्थङ्कर का पदार्पण हुआ था या उनकी धर्मसभा (समवसरण) हुई थी। इसके साथ-साथ आज कुछ जैन-आचार्यों के जीवन से सम्बन्धित स्थलों पर गुरु मंदिरों का निर्माण कर उन्हें भी तीर्थ रूप में माना जाता है।

## तीर्थ यात्रा

जैन परम्परा में तीर्थयात्राओं का प्रचलन कब से हुआ, यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि चूर्णिसाहित्य के पूर्व आगमों में तीर्थ स्थलों की यात्रा करने का स्पष्ट उल्लेख कही नहीं मिलता है। सर्वप्रथम निशीथचूर्णि में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि तीर्थंकरों की कल्याणक-भूमियों की यात्रा करता हुआ जीव दर्शन-विशुद्धि को प्राप्त करता है[२८]। इसी प्रकार व्यवहारभाष्य और व्यवहार चूर्णि में यह उल्लेख है कि जो मुनि अष्टमी और चतुर्दशी को अपने नगर के समस्त चैत्यों और उपश्रायों में ठहरे हुए मुनियों को वन्दन नहीं करता है तो वह मासलघु प्रायश्चित्त का दोषी होता है[२९]।

तीथयात्रा का उल्लेख महानिशीथसूत्र में भी मिलता है। इस ग्रन्थ का रचना काल विवादास्पद है। हरिभद्र एवं जिनदासगणि द्वारा इसके उद्धार की कथा तो स्वयं ग्रन्थ में ही वर्णित है। नन्दीसूत्र में आगमों की सूची में महानिशीथ का उल्लेख अनुपलब्ध है। अत: यह स्पष्ट है कि इसका रचना काल छठी से आठवीं शताब्दी के मध्य ही हुआ होगा। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में तीर्थ यात्राओं को इसी कालावधि में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ होगा।

महानिशीथ में उल्लेख है कि 'हे भगवन्! यदि आप आज्ञा दें तो हम चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन कर और धर्मचक्र की तीर्थयात्रा कर वापस आयें।''[३०]

जिनयात्रा के सन्दर्भ में हरिभद्र के पंचाशक में विशिष्ट विवरण उपलब्ध होता है। हरिभद्र ने नवें पंचाशक में जिनयात्रा के विधि-विधान का निरूपण किया है, किन्तु ग्रन्थ को देखने से ऐसा लगता है कि वस्तुत: यह विवरण दूरस्थ तीर्थों में जाकर यात्रा करने की अपेक्षा अपने नगर में ही जिन-प्रतिमा की शोभा-यात्रा से सम्बन्धित है। इसमें यात्रा के कर्तव्यों एवं उद्देश्यों का निर्देश है। उनके अनुसार जिनयात्रा में जिनधर्म की प्रभावना के हेतु यथाशक्ति दान, तप, शरीर-संस्कार, उचित गीत-वादिन, स्तुति आदि करना चाहिए[३१]। तीर्थ-यात्राओं में श्वेताम्बर परम्परा में जो छह-री पालक संघ यात्रा की जो प्रवृत्ति प्रचलित है, उसके पूर्व-बीज भी हरिभद्र के इस विवरण में दिखाई देते हैं। आज भी तीर्थयात्रा में इन छह बातों का पालन अच्छा माना जाता है-

१. दिन में एकबार भोजन करना (एकाहारी)
२. भूमिशयन (भू-आधारी)
३. पैदल चलना (पादचारी)
४. शुद्ध श्रद्धा रखना (श्रद्धाचारी)
५. सर्वसचित्त का त्याग (सचित्त परिहारी)
६. ब्रह्मचर्य का पालन (ब्रह्मचारी)

तीर्थों के महत्त्व एवं यात्राओं सम्बन्धी विवरण हमें मुख्य रूप से परवर्ती काल के ग्रन्थों में ही मिलते हैं। सर्वप्रथम 'सारावली' नामक प्रकीर्णक में शत्रुंजय - 'पुण्डरीक तीर्थ' की उत्पत्ति कथा, उसका महत्त्व एवं उसकी यात्रा तथा वहां किये गये तप, पूजा, दान आदि के फल विशेष रूप से उल्लिखित हैं।[३२]

इसके अतिरिक्त विविधतीर्थ-कल्प (१३वीं शती) और तीर्थ मालायें भी जो कि १२वीं-१३वीं शताब्दी से लेकर परवर्ती काल में पर्याप्त रूप से रची गयीं; तीर्थों की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं। जैन साहित्य में तीर्थयात्रा संघों के निकाले जाने सम्बन्धी विवरण भी १३वीं शती के पश्चात् रचित अनेक तीर्थमालाओं एवं अभिलेखों में यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जिनकी चर्चा आगे की गयी है।

तीर्थयात्रा का उद्देश्य न केवल धर्म साधना है, बल्कि इसका व्यावहारिक उद्देश्य भी है, जिसका संकेत निशीथचूर्णि में मिलता है। उसमें कहा गया है कि जो एक ग्राम का निवासी हो जाता है और अन्य ग्राम-नगरों को नहीं देखता वह कूपमंडूक होता है। इसके विपरीत जो भ्रमणशील होता है वह अनेक प्रकार के ग्राम-नगर, सन्निवेश, जनपद, राजधानी आदि में विचरण कर व्यवहार-कुशल हो जाता है तथा नदी, गुहा, तालाब, पर्वत आदि को देखकर चक्षु सुख को भी प्राप्त करता है। साथ ही तीर्थंकरों की कल्याणक-भूमियों को देखकर दर्शन-विशुद्धि भी प्राप्त करता है। पुन: अन्य साधुओं के समागम का भी लाभ लेता है और उनकी समाचारी से भी परिचित हो जाता है। परस्पर दानादि द्वारा विविध प्रकार के घृत, दधि, गुड़, क्षीर आदि नाना व्यञ्जनों का रस भी ले लेता है।[३३]

निशीथचूर्णि के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार्य तीर्थयात्रा की आध्यात्मिक मूल्यवत्ता के साथ-साथ उसकी व्यावहारिक उपादेयता भी स्वीकारते थे।

## तीर्थविषयक श्वेताम्बर जैन साहित्य

तीर्थविषयक साहित्य में कुछ कल्याणक भूमियों के उल्लेख समवायांग, ज्ञाता और पर्यूषणाकल्प में हैं। कल्याणक भूमियों के अतिरिक्त अन्य तीर्थक्षेत्रों के जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनमें श्वेताम्बर परम्परा में सबसे पहले महानिशीथ और निशीथचूर्णि में हमें मथुरा, उत्तरापक्ष और चम्पा के उल्लेख मिलते हैं। निशीथचूर्णि, व्यवहारभाष्य, व्यवहारचूर्णि आदि में भी नामोल्लेख के अतिरिक्त इन तीर्थों के सन्दर्भ में विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती; मात्र यह बताया गया है कि मथुरा स्तूपों के लिए, उत्तरापथ धर्मचक्र के लिए और चम्पा जीवन्तस्वामी की प्रतिमा के लिए प्रसिद्ध थे। तीर्थ सम्बन्धी विशिष्ट साहित्य में तित्थोगालिय प्रकीर्णक, सारावली प्रकीर्णक के नाम महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं किन्तु तित्थोगालिय प्रकीर्णक में तीर्थस्थलों का विवरण न होकर के साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की विभिन्न कालों में विभिन्न तीर्थंकरों द्वारा जो स्थापना की गई, उसके उल्लेख मिलते हैं, उसमें जैनसंघरूपी तीर्थ के भूत और भविष्य के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तुत की गई हैं। उसमें महावीर के निर्वाण के बाद आगमों का विच्छेद किस प्रकार से होगा ? कौन-कौन प्रमुख आचार्य और राजा आदि होगें, इसके उल्लेख हैं। इस प्रकीर्णक में श्वेताम्बर परम्परा को अमान्य ऐसे आगम आदि के उच्छेद के उल्लेख भी हैं। यह प्रकीर्णक मुख्यत: महाराष्ट्री प्राकृत में उपलब्ध होता है, किन्तु इस पर शौरसेनी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इसका रचनाकाल निश्चित करना तो कठिन है फिर भी यह लगभग दसवीं शताब्दी के पूर्व का होना चाहिए, ऐसा अनुमान किया जाता है।

तीर्थ सम्बन्धी विस्तृत विवरण की दृष्टि से आगमिक और प्राकृत भाषा के ग्रन्थों में 'सारावली' को मुख्य माना जा सकता है। इसमें मुख्यरूप से शंत्रुजय अपरनाम पुण्डरीक नाम कैसे पड़ा ? ये दो बातें मुख्य रूप से विवेचित हैं और इस सम्बन्ध में कथा भी दी गई है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग ११६ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। यद्यपि यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखा गया है, किन्तु भाषा पर अपभ्रंश के प्रभाव को देखते हुए इसे परवर्ती ही माना जायेगा। इसका काल दशवीं शताब्दी के लगभग होगा।

इस प्रकीर्णक में इस तीर्थ पर दान, तप, साधना आदि के विशेषफल की चर्चा हुई है। ग्रन्थ के अनुसार पुण्डरीक तीर्थ की महिमा और कथा अतिमुक्त नामक ऋषि ने नारद को सुनायी, जिसे सुनकर उसने दीक्षित होकर केवलज्ञान और सिद्धि को प्राप्त किया। कथानुसार ऋषभदेव के पौत्र पुण्डरीक के निर्वाण के कारण यह तीर्थ पुण्डरीकगिरि के नाम से प्रचलित हुआ। इस तीर्थ पर नमि, विनमि आदि दो करोड़ केवली सिद्ध हुए हैं। राम, भरत आदि तथा पंचपाण्डवों एवं प्रद्युम्न, शाम्ब आदि कृष्ण के पुत्रों के इसी पर्वत से सिद्ध होने की कथा भी प्रचलित है। इस प्रकार यह प्रकीर्णक पश्चिम भारत के सर्वविश्रुत जैन तीर्थ की महिमा का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। श्वेताम्बर परंपरा के प्राचीन आगमिक साहित्य में इसके अतिरिक्त अन्य कोई तीर्थ सम्बन्धी स्वतन्त्र रचना हमारी जानकारी में नहीं है।

इसके पश्चात् तीर्थ सम्बन्धी साहित्य में प्राचीनतम जो रचना उपलब्ध होती है, वह बप्पभट्टिसूरि की परम्परा के यशोदेवसूरि के गच्छ के सिद्धसेनसूरि का सकलतीर्थस्तोत्र है। यह रचना ई० सन् १०६७ अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की है। इस रचना में सम्मेतशिखर, शत्रुञ्जय, ऊर्जयन्त, अर्बुद, चित्तौड़, जालपुर (जालौर) रणथम्भौर, गोपालगिरि (ग्वालियर) मथुरा, राजगृह, चम्पा, पावा, अयोध्या, काम्पिल्य, भद्दिलपुर, शौरीपुर, अंगइया (अंगदिका), कन्नौज, श्रावस्ती, वाराणसी, राजपुर, कुण्डनी, गजपुर, तलवाड़, देवराउ, खंडिल, डिण्डूवान (डिण्डवाना), नरान, हर्षपुर (षट्टउदेसे) नागपुर ( नागौर-साम्भरदेश), पल्ली, सण्डेर, नाणक, कोरण्ट, भिन्नमाल, (गुर्जर देश), आहड़ (मेवाड़ देश) उपकेसनगर (किराडउए) जयपुर (मरुदेश) सत्यपुर (साचौर), गुहुयराय, पश्चिम वल्ली, थाराप्रद, वायण, जलिहर, नगर, खेड़, मोढेर, अनहिल्लवाड़ (चड्डावल्लि), स्तम्भनपुर, कयंवास, भरुकच्छ (सौराष्ट्र), कुंकन, कलिकुण्ड, मानखेड़ (दक्षिण भारत) धारा, उज्जैनी (मालवा) आदि तीर्थों का उल्लेख है।[३४]

सम्भवत: समग्र जैन तीर्थों का नामोल्लेख करने वाली उपलब्ध रचनाओं में यह प्राचीनतम रचना है।[३२] यद्यपि इसमें दक्षिण के उन दिगम्बर जैन तीर्थों के उल्लेख नहीं है जो कि इस काल में अस्तित्ववान् थे। इस रचना के पश्चात् हमारे सामने तीर्थ समबन्धी विवरण देने वाली दूसरी महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत रचना विविधतीर्थकल्प है, इस ग्रन्थ में दक्षिण के कुछ दिगम्बर तीर्थों को छोड़कर पर्व, उत्तर, पश्चिम और मध्य भारत के लगभग सभी तीर्थों का विस्तृत एवं व्यापक वर्णन उपलब्ध होता हैं, यह ई० सन् १३३२ की रचना है। श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थ सम्बन्धी रचनाओं में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है। इसमें जो वर्णन उपलब्ध है, उससे ऐसा लगता है कि अधिकांश तीर्थस्थलों का उल्लेख कवि ने स्वयं देखकर किया है। यह कृति अपभ्रंश मिश्रित प्राकृत और संस्कृत में निर्मित है। इसमें जिन तीर्थों का उल्लेख है वे निम्न हैं - शत्रुंजय, रैवतकगिरि, स्तम्भनतीर्थ, अहिच्छत्रा, अर्बुद (आबु), अश्वावबोध (भड़ौच), वैभारगिरि (राजगिरि), कौशाम्बी, अयोध्या, अपापा (पावा) कलिकुण्ड, हस्तिनापुर, सत्यपुर (साचौर), अष्टापद (कैलाश), मिथिला, रत्नवाहपुर, प्रतिष्ठानपत्तन (पैठन), काम्पिल्य, अणहिलपुर, पाटन, शंखपुर, नासिक्यपुर (नासिक), हरिकंखीनगर, अवंतिदेशस्थ अभिनन्दनदेव, चम्पा, पाटलिपुत्र, श्रावस्ती, वाराणसी, कोटिशिला, कोकावसति, ढिंपुरी, अंतरिक्षपार्श्वनाथ, फलवर्द्धिपार्श्वनाथ, (फलौधी), आमरकुण्ड, (हनमकोण्ड-आंध्रप्रदेश) आदि।

इन ग्रंथों के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में अनेक तीर्थमालायें एवं चैत्यपरिपाटियाँ लिखी गईं जो कि तीर्थ सम्बन्धी साहित्य की महत्त्वपूर्ण अंग हैं। इन तीर्थमालाओं और चैत्यपरिपाटियों की संख्या शताधिक है और ये ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं-अठारवीं शताब्दी तक निर्मित होती रही हैं। इन तीर्थमालाओं तथा चैत्यपरिपाटियों में कुछ तो ऐसी हैं जो किसी तीर्थ विशिष्ट से ही सम्बन्धित हैं और कुछ ऐसी हैं जो सभी तीर्थों का उल्लेख करती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन चैत्य परिपाटियों का अपना महत्त्व है, क्योंकि ये अपने-अपने काल में जैन तीर्थों की स्थिति का सम्यक् विवरण प्रस्तुत कर देती हैं। इन चैत्य-परिपाटियों में न केवल तीर्थक्षेत्रों का विवरण उपलब्ध होता है, अपितु वहाँ किस-किस मन्दिर में कितनी पाषाण और धातु की जिन प्रतिमाएँ रखी गयी हैं, इसका भी विवरण उपलब्ध हो जाता है। उदाहरण के रूप में कटुकमति लाधाशाह द्वारा विरचित सूरतचैत्यपरिपाटी में यह बताया गया है कि इस नगर के गोपीपुरा क्षेत्र में कुल ७५ जिनमंदिर, ५विशाल जिन मंदिर तथा १३२५ जिनबिम्ब थे। सम्पूर्ण सूरत नगर में १० विशाल जिनमन्दिर, २३५ देरासर (गृहचैत्य), ३गर्भगृह, ३९७८ जिन प्रतिमाएँ थीं। इसके अतिरिक्त सिद्धचक्र, कमलचौमुख, पंचतीर्थी, चौबीसी आदि को मिलाने पर १००४१ जिनप्रतिमाएँ उस नगर में थीं, ऐसा उल्लेख है। यह विवरण १७३९ का है। इस पर से हम अनुमान कर सकते हैं कि इन रचनाओं का ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से कितना महत्त्व है। सम्पूर्ण चैत्यपरिपाटियों अथवा तीर्थमालाओं का

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उल्लेख अपने आप में एक स्वतन्त्र शोध का विषय है । अत: हम उन सबकी चर्चा न करके मात्र उनकी एक संक्षिप्त सूची प्रस्तुत कर रहे हैं-

| रचना | रचनाकार | रचनातिथि |
|---|---|---|
| सकलतीर्थस्तोत्र | सिद्धसेनसूरि | वि०सं०११२३ |
| अष्टोत्तरीतीर्थमाला | महेन्द्रसूरि | वि०सं० १२४१ |
| कल्पप्रदीप अपरनाम | | |
| विविधतीर्थकल्प | जिनप्रभसूरि | वि०सं०१३८९ |
| तीर्थयात्रास्तवन | विनयप्रभ उपाध्याय | वि०सं०१४वीं शती |
| अष्टोत्तरीतीर्थमाला | मुनिप्रभसूरि | वि०सं० १५वीं शती |
| तीर्थमाला | मेघकृत | वि०सं० १६वीं शती |
| पूर्वदेशीयचैत्यपरिपाटी | हंससोम | वि०सं० १५६५ |
| सम्मेतशिखर तीर्थमाला | विजयसागर | वि०सं० १७१७ |
| श्री पार्श्वनाथ नाममाला | मेघविजय उपाध्याय | वि०सं० १७२१ |
| तीर्थमाला | शीलविजय | वि०सं० १७४८ |
| तीर्थमाला | सौभाग्य विजय | वि०सं० १७५० |
| शत्रुञ्जयतीर्थपरिपाटी | देवचन्द्र | वि०सं० १७६९ |
| सूरतचैत्यपरिपाटी | घालासाह | वि०सं० १७९३ |
| तीर्थमाला | ज्ञानविमलसूरि | वि०सं० १७९५ |
| सम्मेतशिखरतीर्थमाला | जयविजय | --- |
| गिरनार तीर्थ | रत्नसिंहसूरिशिष्य | --- |
| चैत्यपरिपाटी | मुनिमहिमा | --- |
| पार्श्वनाथ चैत्यपरिपाटी | कल्याणसागर | --- |
| शाश्वततीर्थमाला | वाचनाचार्य मेरुकीर्ति | --- |
| जैसलमेरचैत्यपरिपाटी | जिनसुखसूरि | -- |
| शत्रुञ्जयचैत्यपरिपाटी | ---- | -- |
| शत्रुञ्जयतीर्थयात्रारास | विनीत कुशल | -- |
| आदिनाथ रास | कविलावण्यसमय | -- |
| पार्श्वनाथसंख्यास्तवन | रत्नकुशल | -- |
| कावीतीर्थवर्णन | कवि दीपविजय | वि०सं० १८८६ |
| तीर्थराजं चैत्यपरिपाटीस्तवन | साधुचन्द्रसूरि | --- |
| पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी | जिनवर्धनसूरि | --- |
| मंडपांचलचैत्यपरिपाटी | खेमराज | --- |

यह सूची 'प्राचीनतीर्थमालासंग्रह' सम्पादक-विजयधर्मसूरिजी के आधार पर दी गई है ।

**दिगम्बर परम्परा का तीर्थविषयक साहित्य**

दिगम्बर परम्परा में प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवतीआराधना एवं मूलाचार हैं । किन्तु इनमें तीर्थ शब्द का तात्पर्य धर्मतीर्थ या चतुर्विधसंघ रूपी तीर्थ से ही है । दिगम्बर परम्परा में तीर्थक्षेत्रों का वर्णन करने वाले ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ती को प्राचीनतम माना जा सकता है । तिलोयपण्णत्ती में मुख्य रूप से तीर्थङ्करों की कल्याणक-भूमियों के उल्लेख मिलते हैं । किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें क्षेत्रमंगल की चर्चा करते हुए पावा, ऊर्जयंत और चम्पा के नामों का उल्लेख किया गया है ।[३५] इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती में राजगृह का पंचशैलनगर के रूप में उल्लेख हुआ है और उसमें पांचों शैलों का यथार्थ और विस्तृत विवेचन भी है । समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र में ऊर्जयंत का विशेष विवरण प्रस्तुत किया है । दिगम्बर परम्परा में इसके पश्चात् तीर्थों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों के रूप में दशभक्तिपाठ प्रसिद्ध हैं । इनमें संस्कृतनिर्वाणभक्ति और प्राकृतनिर्वाणकाण्ड महत्त्वपूर्ण हैं । सामान्यतया संस्कृतनिर्वाणभक्ति के कर्ता "पूज्यपाद" और प्राकृतभक्तियों के कर्ता "कुंदकुंद" को माना जाता है । पंडित नाथूराम जी प्रेमी ने इन निर्वाणभक्तियों के सम्बन्ध में इतना ही कहा है कि, जब तक इन दोनों रचनाओं के रचयिता का नाम मालूम न हो तब तक इतना ही कहा जा सकता है कि ये निश्चय ही आशाधर से पहले की (अब से लगभग ७०० वर्ष पहले, की हैं । प्राकृत भक्ति में नर्मदा नदी के तट पर स्थित सिद्धवरकूट, बड़वानी नगर के दक्षिण भाग में चूलगिरि तथा पावागिरि आदि का उल्लेख किया गया है किन्तु ये सभी तीर्थक्षेत्र पुरातात्त्विक दृष्टि से नवीं-दसवीं से पूर्व के सिद्ध नहीं होते हैं । इसलिए इन भक्तियों का रचनाकाल और इन्हें जिन आचार्यों से सम्बन्धित किया जाता है वह संदिग्ध बन जाता है । निर्वाणकाण्ड में अष्टापद, चम्पा, ऊर्जयंत, पावा, सम्मेदगिरि, गजपंथ, तारापुर, पावगिरि, शत्रुञ्जय, तुंगीगिरि, सवनगिरि, सिद्धवरकूट, चूलगिरि, बड़वानी, द्रोणगिरि, मेढगिरि, कुंथुगिरि, कोटशिला, रिसिंदगिरि, नागद्रह , मंगलपुर, आशारम्य, पोदनपुर, हस्तिनापुर, वाराणसी, मथुरा, अहिछत्रा, जम्बूवन, अर्गलदेश, णिवडकुंडली, सिरपुर, होलगिरि, गोम्मटदेव आदि तीर्थों के उल्लेख हैं । इस निर्वाणभक्ति में आये हुए चूलगिरि, पावगिरि, गोम्मटदेव, सिरपुर आदि के उल्लेख ऐसे हैं, जो इस कृति को पर्याप्त परवर्ती सिद्ध कर देते हैं । गोम्मटदेव (श्रवणबेलगोला) की बाहुबली की मूर्ति का निर्माण ई० सन् ९८३ में हुआ । अत: यह कृति उसके पूर्व की नहीं मानी जा सकती और इसके कर्त्ता भी कुंदकुंद नहीं माने जा सकते।

पाँचवीं से दशवीं शताब्दी के बीच हुए अन्य दिगम्बर आचार्यों की कृतियों में कुंदकुंद के पश्चात् पूज्यपाद का क्रम आता है । पूज्यपाद ने निर्वाणभक्ति में निम्न स्थलों का उल्लेख किया है -

कुण्डपुर, जृम्भिकाग्राम, वैभारपर्वत, पावानगर, कैलाशपर्वत, ऊर्जयंत, पावापुर, सम्मेदपर्वत, शत्रुञ्जयपर्वत, द्रोणीमत, सह्याचल आदि ।

रविषेण ने 'पद्मचरित' में निम्न तीर्थस्थलों की चर्चा की है कैलाश-पर्वत, सम्मेदपर्वत, वंशगिरि, मेघरव, अयोध्या, काम्पिल्य, रत्नपुर, श्रावस्ती, चम्पा, काकन्दी, कौशाम्बी, चन्द्रपुरी, भद्रिका, मिथिला,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वाराणसी, सिंहपुर, हस्तिनापुर, राजगृह, निर्वाणगिरि आदि ।

दिगम्बर परम्परा के तीर्थ सम्बन्धी शेष प्रमुख तीर्थवन्दनाओं की सूची इस प्रकार है -

| रचना | रचनाकर | समय |
|---|---|---|
| शासनचतुस्त्रिंशिका | मदनकीर्ति | १२वीं-१३वीं शती |
| निर्वाणकाण्ड | ,, | ,, |
| तीर्थवन्दना | ,, | ,, |
| जीरावला पार्श्वनाथस्तवन | उदयकीर्ति | ,, |
| पार्श्वनाथस्तोत्र | पद्मनंदि | १४ वीं शती |
| माणिक्यस्वामीविनति | श्रुतसागर | १५ वीं शती |
| मांगीतुंगीगीत | अभयचन्द | ,, |
| तीर्थवन्दना | गुणकीर्ति | ,, |
| तीर्थवन्दना | मेघराज | ,, |
| जम्बूद्वीपजयमाला | तीर्थजयमाला | ,, |
| | सुमतिसागर | १६ वीं शती |
| जम्बूस्वामिचरित | राजमल्ल | ,, |
| सर्वतीर्थ वन्दना | ज्ञानसागर | १६वीं-१७वीं शती |
| श्रीपुरपार्श्वनाथविनती | लक्ष्मण | १७वीं शती |
| पुष्पांजलिजयमाला | सोमसेन | ,, |
| तीर्थजयमाला | जयसागर | ,, |
| तीर्थवन्दना | चिमणा पंडित | ,, |
| | जिनसेन | ,, |
| सर्वत्रैलोक्यजिनालय जयमाला | विश्वभूषण | १७वीं शती |
| बलिभद्र अष्टक | मेरुचन्द्र | ,, |
| बलिभद्र अष्टक | गंगादास | ,, |
| मुक्तागिरि जयमाला | धनजी | ,, |
| रामटेक छंद | मकरंद | १७वीं-१८वीं शती |
| पद्मावती स्तोत्र | तोपकरि | १८वीं शती |
| षट्तीर्थ वन्दना | देवेन्द्रकीर्ति | ,, |
| | जिनसागर | ,, |
| मुक्तागिरि आरती | राघव | १८वीं-१९वीं शती |
| अकृत्रिम चैत्यालयजयमाला | पं० दिलसुख | १९वीं शती |
| पार्श्वनाथ जयमाला | ब्रह्म हर्ष | ,, |
| तीर्थवन्दना | कवीन्द्रसेवक | ,, |

नोट : उक्त तालिका डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा संपादित तीर्थवन्दनसंग्रह के आधार पर प्रस्तुत की गयी है ।

**आधुनिक काल के जैन तीर्थ-विषयक ग्रन्थः**

१- जैन तीर्थोनो इतिहास (गुजराती), मुनि श्री न्यायविजय जी
- श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, अहमदाबाद १९४९ ई०

२- जैनतीर्थसर्वसंग्रह, भाग-१, (खण्ड १-२), भाग-२ पं० अम्बालाल पी० शाह, आनन्द जी कल्याण जी की पेढ़ी, झवेरीवाड़, अहमदाबाद से प्रकाशित ।

३. भारत के प्राचीन जैनतीर्थ - डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, जैन संस्कृति संसोधन मण्डल, वाराणसी-५ ।

४. भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, १,२,३,४,५, (सचित्र)
-श्री बलभद्र जैन
प्रका० भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी, बम्बई ।

५. तीर्थदर्शन, भाग १ एवं २
प्रकाशक-श्री महावीर जैन कल्याण संघ, मद्रास ६०००७

इसके अतिरिक्त पृथक्-पृथक् तीर्थों पर भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं ।

**संदर्भ**

१. (अ) अभिधानराजेन्द्रकोष, चतुर्थ भाग, पृ० २२४२
(ब) स्थानांग टीका ।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३/५७,५९,६२ (सम्पा० मधुकर मुनि)

३. सुयधम्मतित्थमग्गो पावयणं पवयणं च एगट्ठा ।
सुत्त तंतं गंथो पाढो सत्थं पवयणं च एगट्ठा ।।
-विशेषावश्यक भाष्य, १३७८

४. के ते हरए ? के य ते सन्तितित्थे ?
कहिंसि ण्हाओ व रयं जहासि ?
धम्मे हरये बंभे सन्तितित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिंसि ण्हाओ विमलो विसुद्धो
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ।।
-उत्तराध्ययनसूत्र, १२/४५-४६

५. देहाइतारयं जं बज्झमलावणयणाइमेत्तं च ।
णेगंताणच्चंतिफलं च तो दव्वतित्थं तं ।।
इह तारणाइफलयंति ण्हाण-पाणा-ऽवगाहणईहिं ।
भवतारयंति केई तं नो जीवोवघायाओ ।।
- विशेषावश्यक भाष्य, १०२८-१०२९

६. देहोवगारि वा तेण तित्थमिह दाहनासणाईहिं ।
महु-मज्ज-मंस-वेस्सादओ वि तो तित्थमावन्नं ।।
- वही, १०३१

७. सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।
सर्वभूतदयातीर्थं सर्वत्रार्जवमेव च ।।
दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते ।
ब्रह्मचर्य परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता ।।
तीर्थनामपि तत्तीर्थं विशुद्धिमनसः परा ।
- शब्दकल्पद्रुम - 'तीर्थ', पृ० ६२६

८. भावे तित्थं संघो सुयविहियं तारओ तहिं साहू ।
नाणाइतियं तरणं तरियव्वं भवसमुद्दो यं ।।
- विशेषावश्यक भाष्य, १०३२

९. जं नाण-दंसण-चरितभावओ तव्विवक्खभावाओ ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भव भावओ य तारेइ तेणं तं भावओ तित्थं ।।
तह कोह-लोह-कम्ममयदाह-तण्हा-मलावणयणाइं ।
एगंतेणच्चंतं च कुणइ य सुद्धिं भवोघाओ ।।
दाहोवसमाइसु वा जं तिसु थियमहव दंसगाईसु ।
तो तित्थं संघो च्चिय उभयं व विसेसणविसेस्सं ।।
कोहग्गिदाहसमणादओ व ते चेव जंस्स तिण्णत्था ।
होई तियत्थं तित्थं तमत्थवद्दो फलत्थोऽयं ।।

- वही, १०३३-१०३६

१०. नामं ठवणा-तित्थं, दव्वतित्थं चेव भावतित्थं च ।

- अभिधानराजेन्द्रकोष, चतुर्थ भाग, पृ० २२४२

११. 'परतित्थिया'- सूत्रकृतांग, १।६।१

१२. एवं वुत्ते, अन्नतरो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहिपुत्तं एतदवोच-'अयं, देव, पूरणो कस्सपो सङ्घी चेव गणी च गणाचरियो च, नातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहुजनस्स, रत्तञ्ञू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो ।

- दीघनिकाय (सामञ्ञफलसुत्तं), २।२

१३. सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ।।

- युक्त्यनुशासन, ६१

१४. अहव सुहोत्तारूत्तारणाइ दव्वे चउव्विहं तित्थं ।
एवं चिय भावम्मिवि तत्थाइमयं सरक्खाणं ।।

-विशेषावश्यक भाष्य, १०४०-४१

(भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख किया है ।)

१५. तित्थं भंते तित्थं तित्थगरे तित्थं ? गोयमा ! अरहा ताव णियमा तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वणाइणे समणसंघे । तं जहा-समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ य ।

-भगवतीसूत्र, शतक २०, उद्दे० ८,

१६. 'वयसंमत्तविसुद्धे पंचेदियसंजदे णिरावेक्खो ।
ण्हाए उ मुणी तित्थेदिक्खासिक्खा सुण्हाणेण ।।'

- बोधपाहुड, मू० २६-२७

१७. वही, टीका २६।९१।२१

१८. सुधम्मो एत्थ पुण तित्थं । मूलाचार, ५५७

१९. 'तज्जगत्प्रसिद्धं निश्चयतीर्थप्राप्तिकारणं
मुक्तमुनिपादस्पृष्टं तीर्थउर्जयन्तशत्रुञ्जयलाटदेशपावागिरि-। - वही,

२०. दुविहं च होइ तित्थं णादव्वं दव्वभावसंजुत्तं ।
एदेसिं दोण्हं पि य पत्तेय परूवणा होदि ।।

-मूलाचार, ५६०

२१. से भिक्खु वा भिक्खु वा ..... थूभ महेसु वा, चेतिय महेसु वा तडाग महेसु वा, दह महेसु वा णई महेसु वा सरमहेसु वा .... णो पडिगाहेज्जा।

- आचारांग, २।१।२।२४ (लाडनूं)

२२. (अ) समवायांग प्रकीर्णक समवाय, २२५/१
(ब) आवश्यकनिर्युक्ति, ३८२-८४

२३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २।१११ (लाडनूं)

२४. (अ) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जम्बुद्दीवपण्णत्ति), २/११४-२२
(ब) आवश्यकनिर्युक्ति, ४५
(स) समवायांग, ३५/३

२५. अट्ठावय उज्जिते गयग्गपए धम्मचक्के य ।
पासरहावतनगं चमरुप्पायं च वंदामि

- आचारांगनिर्युक्ति, पत्र १८

२६. निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० २४

२७. उत्तरावहे धम्मचक्कं, महुर ए देवणिम्मिय थूभो कोसलाए व जियंतपडिमा, तित्थकराण वा जन्मभूमीओ ।

-निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० ७९

२८. वही, भाग ३ पृ० २४

२९. निस्सकडमनिस्सकडे चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि । वेलंब चेइआणि व नाउं रक्किक्किक आववि,' 'अट्ठमीचउदसी सुंचेइय सववाणि साहुणो सव्वे वन्देयव्या नियमा अवसेस-तिहीसु जहसत्ति ।।' एएसु अट्ठमीमादीसु चेइयाइं साहुणो वा जे अणणाए वसहीए ठिआते न वंदंति मास लहु ।।

-व्यवहारचूर्णि-उद्धृत जैनतीर्थोनो इतिहास, भूमिका, पृ० १०

३०. जहन्नया गोयमा ते साहुणो तं आयरियं भणंति जहा-णं जइ भयवं तुमे आणावेहि ताणं अम्हेहिं तित्थयत्तं करि (२) या चंदप्पहसामियं वंदि (३) या धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो ।।

-महानिशीथ, उद्धृत, वही, पृ० १०

३१. श्री पंचाशक प्रकरणम्- हरिभद्रसूरि, जिनयात्रा पंचाशक पृ० २४८-६३ अभयदेवसूरि की टीका सहित-प्रकाशक-ऋषभदेव केशरीमल श्वे, संस्था, रतलाम)

३२. पइण्णयसुत्ताइं-सारावली पइण्णयं, पृ० ३५०-६० बम्बई ४०००३६

३३. **अहाव** - तस्स भावं णाऊण भणेज्जा-'सो वत्थव्वो एगगामणिवासी कूवमंडुक्को इव ण गामणगरादी पेच्छति । अम्हे पुण अणियतवासी, तुमं पि अम्हेहिं समाणं हिंडतो णाणाविध-गाम-णगरागर सन्निवेसरायहाणिं जाणवदे य पेच्छंतो अभिधाणकुसलो भविस्ससि, तहा सर वाबि-वप्पिणि-णदि-कूव-तडाग-काणणुज्जाण कंदर-दरि-कुहर-पव्वते य णाणाविह-रुक्खसोभिए पेच्छंतो चक्खुसुहं पाविहिसि, तित्थकराण य तिलोगपूइयाण जम्मण-णिक्खण-विहार-केवलुप्पाद-निव्वाणभूमीओ य पेच्छंतो दंसणसुद्धिं काहिसि 'तहा अण्णोण्ण साहुसमागमेण य सामायारिकुसलो भविस्ससि, सव्वापुव्वे य चइए वंदंतो बोहिलाभं निज्जित्तेहिसि, अण्णोण्ण-सुय-दाणाभिगमसड्ढेसु संजमाविरुद्धं विविध- वंजणोववेयमण्यं घय-गुल-दधि-क्षीरमादियं च विगतिवरिभोगं पाविहिसि' ।।२७१६। -निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० २४, प्रकाशक-सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

३४. सम्मेयसेल-सेत्तुञ्ज-उज्जिते अब्बुयंमि चित्तउडे ।
जालउरे रणथंभे गोपालगिरिंमि वंदामि ।।१९।।
सिरिपासनाहसहियं रम्मं सिरिनिम्मयं महाथूभं ।
कालिकाले वि सुयित्थं महुरानयरीउ (ए) वंदामि ।।२०।।
रायगिह-चम्प-पावा-अउज्झ-कंपिल्लट्ठणपुरेसु ।
भद्दिलपुरि-सोरीयपुरि-अङ्गइया-कन्नउज्जेसु ।।२१।।
सावत्थि-दुग्गामाइसु वाणारसीपमुहपुव्वदेसंमि ।
कम्मग-सिरोहमाइसु भयाणदेसंमि वंदामि ।।२२।।
राजउर-कुण्डणीसु य वंदे गज्जउर पंच य सयाई ।
तलवाड देवराउ रुउत्तदेसंमि वंदामि ।।२३।।
खंडिल-डिंडूआणय नराण-हरसउर खट्टऊदेसे ।
नागउरमुव्विदंतिसु संभरिदेसंमि वेदेमि ।।२४।।
पल्ली संडेरय-नाणएसु कोरिंट-भिन्नमाल्लेलेसु ।
वंदे गुज्जरदेसे आहाडाईसु मेवाडे ।।२५।।
उवएस-किराडमए वि जयपुराईसु मरुमि वंदामि ।
सच्चउर-गुड्डरायसु पच्छिमदेसंमि वंदामि ।।२६।।
थाराउद्दय-वायड-जालीहर-नगर-खेड-मोढेरे ।
अणहिल्लवाडनयरे वड्डावल्लीयं बंभाणे ।।२७।।
निहयकलिकालमहियं सायसतं सयलवाइथंभणए ।
थंभणपुरे कयवासं पासं वंदामि भत्तीए ।।२८।।
कच्छे भरुयच्छंमि य सोरट्ठ-मरहट्ठ-कुंकण-थलीसु ।
कलिकुण्ड-माणखेडे दक्षि (क्खि) णदेसंमि वंदामि ।।२९।।
धारा-उज्जेणीसु य मालवदेसंमि वंदामि ।
वंदामि मणुयविहिए जिणभवणे सव्वदेसेसु ।।३०।।
भरहयि (म्मि) मणुयविहिया महिया मोहारिमहियमाहप्पा ।
सिरिसिद्धसेणसूरीहिं संथुया सिवसुहं देंतु ।।३१।।
Discriptive Catalogue of Mss in the Jaina Bhandars at Pattan-G.O.S. 73, Baroda, 1937, p. 56

३५. तिलोयपण्णत्ति, १/२१-२४

# अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी या शौरसेनी

प्राकृत-विद्या, अंक जनवरी-मार्च १९९७ (पृ. ९७) में भोलाशंकर व्यास के व्याख्यान के समाचारों के सन्दर्भ में सम्पादक डा० सुदीप जैन ने उन्हें उद्धृत करते हुए लिखा है कि शौरसेनी प्राकृत के प्राचीनतम रूप सम्राट् अशोक के गिरनार शिलालेख में मिलते हैं। किन्तु प्रो० व्यासजी का यह कथन भ्रामक है और इसका कोई भी ठोस भाषाशास्त्रीय आधार नहीं है।

अशोक के अभिलेखों की भाषा और व्याकरण के सन्दर्भ में अधिकृत विद्वान् एवं अध्येता डा० राजबली पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अशोक के अभिलेख' में गहन समीक्षा की है। उन्होंने अशोक के अभिलेखों की भाषा को चार विभागों में बाँटा है-१ पश्चिमोत्तरी (पैशाच-गान्धार), २ मध्यभारतीय, ३ पश्चिमी महाराष्ट्र, ४ दक्षिणावर्त (आन्ध्रकर्नाटक)। अशोक की भाषा के सन्दर्भ में वह लिखते हैं- महाभारत के बाद का भारतीय इतिहास मगध साम्राज्य का इतिहास है। इसलिए शताब्दियों से उत्तरभारत में एक सार्वदेशिक भाषा का विकास हो रहा था। यह भाषा वैदिक भाषा से उद्भूत लौकिक संस्कृत से मिलती-जुलती थी और उसके समानान्तर प्रचलित हो रही थी। अशोक ने अपने प्रशासन और धर्म प्रसार के लिए इसी भाषा को अपनाया, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस भाषा का केन्द्र मगध था, जो मध्य-देश (थानेसर और कजंगल की पहाड़ियों के बीच का देश) के पूर्व भाग में स्थित था। इसलिए मागधी भाषा की इसमें प्रधानता थी, परन्तु सार्वजनिक भाषा होने के कारण दूसरे प्रदेशों की ध्वनियों और कहीं-कहीं शब्दों और मुहावरों को भी यह आत्मसात करती जा रही थी। अशोक के अभिलेख मूलत: मगध साम्राज्य की केन्द्रीय भाषा में लिखे गये थे। फिर भी यह समझा गया कि दूरस्थ प्रदेशों की जनता के लिए यह प्रशासन और प्रचार की भाषा थोड़ी अपरिचित थी। इसलिए अशोक ने इस बात की व्यवस्था की थी कि अभिलेखों के पाठों का विभिन्न प्रान्तों में आवश्यकतानुसार थोड़ा बहुत लिप्यन्तर और भाषान्तर कर दिया जाय। यही कारण है कि अभिलेखों के विभिन्न संस्करणों में पाठ-भेद पाया जाता है। पाठ-भेद इस तथ्य का सूचक है कि भारत के विभिन्न भागों में विभिन्न बोलियां थीं, जिनकी अपनी विशेषताएं थीं। अशोक के अभिलेखों में विभिन्न बोलियों के शब्द- रूप देखने से यह ज्ञात होता है कि मध्यभारतीय भाषा ही इस समय की सार्वदेशिक भाषा थी, मूलत: इसी में अशोक के अभिलेख प्रस्तुत हुए थे। इसे मागध अथवा मागधी भाषा भी कह सकते हैं। परन्तु यह नाटकों एवं व्याकरण की मागधी से भिन्न है। जहाँ मागधी प्राकृत में केवल तालव्य 'श' का प्रयोग होता है वहां अशोक के अभिलेखों में केवल दन्त्य 'स' का प्रयोग होता है। ( देखें- अशोक के अभिलेख-डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० २२-२३)

इससे दो तथ्य फलित होते हैं, प्रथम तो यह कि अशोक के अभिलेखों की भाषा नाटकों और व्याकरण की मागधी प्राकृत से भिन्न है और उसमें अन्य बोलियों के शब्द रूप निहित हैं। इसलिए हम इसे अर्धमागधी भी कह सकते है। यद्यपि श्वेताम्बर आगमों में उपलब्ध अर्धमागधी की अपेक्षा यह किंचित् भिन्न है फिर भी इतना निश्चित है कि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org